नृप अभिमान मोह बस किंबा

आचार्य डॉ0 रामेश्वर प्रसाद गुप्त, दतिया (म0प्र0) फोन : 9826249448

गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा विरचित श्रीरामचरितमानस महाकाव्य मानव–जीवन को सुखमय बनाने का सुचारु संविधान है। यह सम्पूर्ण लोक का हितकारी है। इस महाकाव्य में एतद्विषयक स्वयं उल्लेख किया गया है –

कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी।।

(1/107/6)

तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी।।

(1/112/8)

श्रीरामचरितमानस में भले ही मानव समाज के लिये सही सुपंथ निदर्शन–हेतु सहस्राधिक सुभाषित हैं, तथापि उनमें से किसी एक का भी सही पालन हो, तो मानव उन्नति पथ पर अग्रसर होकर अपना यशोन्मेष प्रसारित कर सकता है। यहाँ निरभिमान सद्गुण का मानव की आत्मोन्नति हेतु उत्प्रेरक तथा अभिमान का सकल शोक दाता के रूप में निरूपण प्रस्तुत है।

जाम्बवंत जी की सलाह पर सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि लंका पर चढ़ाई करने से पूर्व रावण को सुलह करने का एक मौका और दिया जाए। इस हेतु अंगद जी दूत के रूप में जाते हैं और रावण को समझाते हुए कहते हैं कि उत्तम कुल में उत्पन्न, पुलस्त्य ऋषि के नाती तथा ब्रह्मा–शिव को पूजने के परिणाम स्वरूप विश्वविजयी बने रावण! तुमने अभिमान वश जगदम्बा सीता का हरण किया –

नृप अभिमान मोह बस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा।।

(6/20/5)

'मानस' की इस अर्द्धाली पर विचार करते हुए दो मनोवृत्तियों पर ध्यान जाता है– **"विनम्रता तथा अभिमान"** विनय व्यक्ति के लिये सबसे बड़ी उपलब्धि है। विनय पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति का मूल–आधार है, अतएव कहा गया है कि **'विनयेन सर्वं प्राप्यते'।** श्रीरामचरितमानस सर्वप्रथम विनयी बनने का पाठ पढ़ाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी **'नानापुराणनिगमागम'** के ज्ञाता होते हुये भी अपने को अतिशय विनम्र निरूपित करने में ही परमानन्द का अनुभव करते हैं, यथा –

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

(1/8/2)

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥

(1/9/8 एवं 11)

देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥

(1/7 घ)

आत्मश्लाघा से अत्यन्त दूर एवं परम विनयी भाव से भरपूर गोस्वामी तुलसीदास जी का उक्त शुभ शिवभाव सभी मानवों के मर्मस्पर्श करने में अतुल समर्थ एवं अतुल सशक्त है। इतना महान् व्यक्तित्व, ज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म के निष्कर्ष पर खरा उतरा हुआ संत, महात्मा गोस्वामी तुलसीदास किञ्चित्मात्र भी अभिमान के जाल जंजाल में नहीं फँसा। इसे ईश्वर की कृपा कहें या उस पवित्र आत्मा के उन्मेष का पावन प्रभाव अथवा स्वयं की साधना–आराधना से अनासक्ति भाव का भव्य दिव्य आगम।

श्रीरामचरितमानस में दो प्रमुख पात्र अभिधेय हैं – एक मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम' और दूसरा उनका प्रतिद्वन्द्वी महाभिमानी राक्षसराज 'रावण'। एक विनय–प्रधान और अपर आत्मश्लाघा तथा अभिमान की खान।

श्रीराम अपनी विनम्रता से विश्ववंद्य बने और राक्षसराज रावण अपने दम्भ और अभिमान से अपने कुल सहित अपना विनाशक। श्रीरामचरितमानस के प्रणेता गोस्वामी जी ने अपनी उक्त कृति के माध्यम से श्रीराम के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय यह प्रश्न उठाकर कराया है कि **"राम कवन प्रभु पूछउँ तोही"** और इसके संकेतक स्वरूप लिखा है –

एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥

(1/46/7)

पुनश्च गोस्वामी ने उन्हीं श्रीराम को मन, क्रम, वचन, अगोचर तथा महाविष्णु का अवतार एवं सच्चिदानन्द निरूपित कर लिखा है कि –

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर बासी॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥

(1/117/7, 1/120/6, 7/48/8 एवं 1/50/7)

एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।
सुर रंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबि भार॥

(1/139)

तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥
बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥
ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

(1/151, 1/192, 1/198)

मन क्रम बचन अगोचर जोई। दशरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥

(1/203/5)

स्पष्ट है कि श्रीरामचरितमानस के नायक 'श्रीराम' अवतारी पुरुष एवं राजा दशरथ के सुपुत्र के रूप में विश्वविश्रुत रहे हैं। सर्व देवों में श्रेष्ठ श्री राम अपने शील, शालीनता, सत्य, निर्मलता, निश्छलता से ही परिज्ञात हैं, यथा –

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥
जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा।
बिद्या बिनय निपुन गुन सीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला॥
राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥

(1/76/5, 1/197/5, 1/198/6, 1/204/6 तथा 1/237/2)

ऐसे सर्वेश्वर श्रीराम की प्राप्ति भी निश्छल मन व्यक्ति को सहज ही होती है, यथा –

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(1/200/6 तथा 5/44/5)

अपने उपर्युक्त शील, शालीनता, सत्य एवं सद्वृत्ति से ही श्रीराम हमारे श्रेष्ठ त्रिदेवों से भी श्रेष्ठ और मान्य हैं, यथोल्लेख है –

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥
सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥

(2/127/1, 5/21/5, 5/23/8 तथा 6/22/1)

'शील' मानव का श्रेष्ठ गुण एवं श्रेष्ठ आभूषण है। यथोक्त है कि –

सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्।

(नीतिशतक–81)

शालीनता और शान्त स्वभाव श्रीराम का अद्वितीय अलौकिक गुण है, अतः ब्रह्मा, शम्भु फणीन्द्र आदि श्रेष्ठ देवों से भी वे सेव्य हैं, यथा –

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्।।

(5 / मंगलाचरण–1)

शील और विनय जिसमें समग्रभाव से हों, वह लोक में सृष्टि पर्यन्त पूज्य बनता है। श्रीराम अपने उक्त गुणों से ही पुरुषोत्तम एवं सर्वपूज्य हैं।

अब श्रीरामचरितमानस में वर्णित इस महाकाव्य के खलनायक के विषय में परिज्ञान करना अपेक्षित है। राक्षसराज 'रावण' कृति का प्रति नायक है। पावन पुलस्त्य कुल में उसका प्रभव हुआ है, लेकिन अपने दम्भ और ऋषि शाप के कारण वह महीश्वर (ब्राह्मण) सपरिवार अघरूप असुर हुआ है, यथोल्लेख है –

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा।।

(1 / 176 / 1)

उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर श्राप बस भए सकल अघरूप।।

(1 / 176)

राजा रावण बड़ा तपस्वी था। इसकी विद्वत्ता, ज्ञान, बल, वैभव आदि का वर्णन प्रायः सभी श्रेष्ठ ग्रन्थों में वर्णित है। इसके उग्रतप के विषय में श्रीरामचरितमानस में उल्लेख है –

कीन्ह बिबिध तप तीनिहुँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई।।

(1 / 177 / 1)

महातपस्वी होते हुये भी इन राक्षसों के लोभ और अभिमान की अतिशयता ने इन्हें अन्यायी बना दिया था, यथोल्लेख है –

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।।

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिन्ह कें धरम न दाया।।
सेन बिलोकि सहज अभिमानी। बोला बचन क्रोध मद सानी।।

(1 / 180 / 1–2 तथा 1 / 181 / 1 एवं 4)

रावण आदि राक्षस तप बल से प्राप्त समृद्धियों से उद्दण्ड बन गये जब कि **'अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः'** (नीतिशतक 62) के अनुसार विनम्र होना चाहिये था। अपार उपलब्धियों से अभिमान और अन्यान्य अवगुणों से सम्पृक्त हुये राक्षसराज रावण और सभी राक्षसगण परम दम्भी बन गये और गुरुवत परम पूज्य माता पिता तथा देवों की भी अवहेलना तथा तिरस्कार करने लगे। गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे अविनीत प्राणियों को असुर संज्ञा दी है, यथा –

मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।।

(1 / 184 / 2–3)

अहंकार व्यक्ति के सर्वनाश का कारण होता है। रावण में यह 'अहंकार अवगुण' पूरी तरह घर कर गया था। वह स्वयं को ही सृष्टि का कर्त्ता धर्ता मानने लगा था। अहंकारी विवेक भ्रष्ट हो जाता है यथा –

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

(श्रीमद्भगवद्गीता 3 / 27)

अहंकारी तो परमात्मा के द्वेषी कहे गये हैं, यथा –

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 16 / 18)

श्रीरामचरितमानस में रावण का अहंकार ही उसके सर्वनाश का आधार निरूपित किया गया है। अहंकारी का क्रोध उसके लिये महापापमय छल का प्रणेता बनता है। वह कुपथगामी बन जाता है। यथोक्त है –

जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं।।
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं।।

(3 / 28 / 8–9)

देखिये, सर्वसमर्थ होने पर भी अहंकारी व्यक्ति की कितनी दयनीय एवं कारुणिक स्थिति हो जाती है। केवल सच्चरित्र और सन्मार्ग ग्रहण ही अहंकार का नाशक है। श्रीराम शुभचरित्र और सन्मार्ग के प्रतीक हैं। इसीलिये गोस्वामी जी राक्षसराज रावण को उसके कुलीन कुल की दुहाई देते हुये सद्वृत्ति रूप राम में रमने

की प्रेरणा देते हुये लिखते हैं –

राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू।।
राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्याग मद मोहा।।
राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।।

(5/23/1, 3 एवं 5)

राक्षसराज रावण के माध्यम से लोक को उसके कल्याण हेतु गोस्वामी तुलसीदास ने अभिमान को पूरी तरह त्याज्य कहा है, यथा –

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान।।

(5/23)

वस्तुतः भगवान की कृपा के बिना अभिमानी व्यक्ति अपने विनाशक अभिमान को छोड़ने के लिये राजी ही नहीं होता, यथोक्त है –

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी।।
बोला बिहसि महा अभिमानी। मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी।।

(5/24/1–2)

अभिमानी व्यक्ति का अभिमान सहज स्वभाव बन जाता है। वह सदैव आत्मश्लाघा में ही डूबा रहता है। रावण के चरित्र वर्णन में गोस्वामीजी ने स्पष्ट किया है –

कंपहिं लोकप जाकीं त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा।।
सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना।।
बरुन कुबेर पवन जम काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला।।
देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें।।
सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हरगिरि जान जासु भुज लीला।।
जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी।।
सोइ रावन जग बिदित प्रतापी। सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी।।

(5/37/4, 6/8/2–4, 25/1, 7 एवं 8)

सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस।।

(6/28)

अभिमानी व्यक्ति अपने मुख से ही अपनी अनन्त बड़ाई करता है। इसमें उसे लाज भी नहीं आती। रावण के विषय में एतद्विषयक कथन है –

लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ।।

(6/29/6)

अभिमानी व्यक्ति न तो अभिमान त्यागने को किसी की मानता है और न ही गलतियाँ या अपराध करने पर निर्लज्जता का अनुभव करता है। वस्तुतः दम्भ उसके सिर पर मँडराता रहता है और फिर वही दम्भ या अभिमान ही उसका सर्वनाश कर देता है। श्रीरामचरितमानस में वर्णित रावण के अतिरिक्त दक्ष प्रजापति तथा राजा प्रतापभानु का भी अभिमान के कारण ही विनाश हुआ था। अभिमानी व्यक्ति अभिमान के बदले मिले हुये संत्रास को भी अविलम्ब भूल जाता है। रावण अपने पुत्रों के मरण का संत्रास भूलकर सुख अनुभव कर रहा था, यथोक्त है –

नारि बचन सुनि बिसिख समाना। सभाँ गयउ उठि होत बिहाना।।
बैठ जाइ सिंघासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली।।
उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना।।

(6/38/1–2 तथा 6/40/6)

अभिमानी व्यक्ति गर्जना बहुत करता है। रावण का भी यही स्वभाव था, यथा –

गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धायउ दसहु सरासन तानी।।

(6/93/2)

यह रावण का अभिमान था, जिसके कारण उसके कुल में उसके लिये कोई रोने वाला शेष नहीं रहा। यथोल्लेख है –

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।।

(6/104/10)

अहंकार परब्रह्म परमात्मा को पसंद ही नहीं है। वस्तुतः किसी भी देव को अभिमान स्वीकार नहीं है। काकभुशुंडि अपने पूर्व जन्म में गुरुजी के आने पर उनके आदरार्थ अभिमानवश खड़े नहीं हुये तो शिवजी ने यह अपमान सहन न करते हुये उन्हें अनेक दुःखद जन्म लेने का अभिशाप दिया था, यथोक्त है –

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं।।

(7/107/5)

श्रीरामचरितमानस के नायक श्रीराम विनम्र व्यक्ति के समक्ष और अधिक विनम्र बन जाते हैं, वहीं रावण विनयी व्यक्ति के आगे और भी अधिक अभिमानी बन जाता है। अभिमान आने का मतलब है कि उस परब्रह्म परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार न करना, यथोक्त है –

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खौवे चह कृपानिधाना।।

(7/62/8)

गोस्वामी तुलसीदास स्पष्ट करते हैं कि 'अभिमान' सम्पूर्ण प्रकार से (चारों ओर से) शोक प्रदान करने वाला होता है यथोक्त है –

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना।।

(7/74/6)

गोस्वामीजी यह भी स्पष्ट करते हैं कि अहंकार गाँठ का भयावह रोग अर्थात् कैंसर जैसा महा दुखदायी होता है, यथा –

अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ।।

(7/121/35)

अब प्रश्न उठता है कि 'अहंकार' कैसे निराकृत अथवा कैसे जाये? इसका बहुत श्रेष्ठ उपाय श्रीरामचरितमानस में है कि अहंकार रूपी मानस रोग की निवृत्ति के लिये सत्संग और ईश्वर की भक्ति परम आवश्यक हैं। यही अभिमान से मुक्त कर सकते हैं, यथा –

सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई।।
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

(1/3/2 तथा 7)

रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाही।।

(7/122/7–8)

रामचंद्र के भजनु बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान।।

(7/78 क)

अभिमान रूपी महाशत्रु के निराकरण के लिये व्यक्ति के अन्तस् से या अन्य बहिर् सुस्थानों से प्रेरणा प्राप्त होना अनिवार्य है और ये सतत सत्संग से ही संभव है, व्यक्ति का अभिमान के प्रति मोह तिरोहित हो सकेगा और तभी **'नृप अभिमान मोह बस किंबा'** सूक्ति सार्थक सिद्ध होगी, जो लोक–कल्याणकारी बनेगी।

जीवन का सत्य

जहाँ दूसरों को समझाना कठिन हो, वहाँ खुद को समझा लेना ही बेहतर है। 'खुश' रहने का सीधा सा एक ही 'मंत्र' है कि उम्मीद अपने आप से रखो किसी और से नहीं।

जीवित शव

पं0 डॉ0 रामगोपाल तिवारी 'मानस रत्न', ग्राम-मलहरा निवादा (बाँदा)
फोन : 9451142792

सृष्टि में मानव शरीर प्राप्त करना बड़े सौभाग्य का परिणाम है –

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।
नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।।

(7/43/7 तथा 7/121/9)

यह बात केवल शास्त्रोल्लेख के कारण ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक जगत में भी मनुष्य जैसा समझदार, बुद्धिमान तथा सुशोभनीय उपयोगी शरीर किसी अन्य जीव का नहीं है। इस मानव शरीर का एक–एक अंग आवश्यक, महत्वपूर्ण, उपयोगी एवं सार्थक है और प्रत्येक अंग के अलग–अलग कार्य हैं। कार्य चाहे लौकिक, व्यावहारिक, सांसारिक हों या धार्मिक, परोपकारी। कार्य चाहे सत्कर्म हों अथवा दुष्कर्म, परन्तु शरीर के प्रत्येक अंग के अपने–अपने कार्य हैं।

गीता के अनुसार कोई भी मनुष्य बिना कार्य किये एक भी क्षण नहीं रह सकता –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

(गीता 3/5)

क्योंकि किसी भी देहधारी के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग सम्भव नहीं है –

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः

(गीता 18/11)

इसीलिए कर्म करने के लिए शरीर में कर्मानुकूल करण (इन्द्रियाँ) हैं। इन्द्रियों में भी बाह्यकरण एवं अन्तःकरण का विभाजन है। पुनश्च– बाह्यकरण में भी ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के भिन्न–भिन्न कार्य व्यवहार हैं। इन इन्द्रियों से अपने–अपने अभ्यास और स्वभावानुसार सत्कर्म या दुष्कर्म, परहित या पर पीड़ा सभी प्रकार के कार्य व्यवहार होते हैं, परन्तु जो कार्य परमात्मा की सेवा के रूप में होते हैं, वही सार्थक हैं।

श्रीमद्भागवत में अम्बरीष जी के लिए आया है कि उन्होंने अपने मन को श्रीकृष्णचन्द्र के चरणकमलों में, वाणी को भगवद्गुणानुवर्णन में, हाथों को हरिमन्दिर के मार्जन आदि में, कानों को भगवान की कथा में, नेत्रों को मुकुन्द मन्दिर मूर्ति दर्शन में, नासिका को भगवान में पूजित तुलसी की सुगन्धि में, रसना को भगवान के उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण में लगा रखा था। पैरों से भगवान की परिक्रमा, सिर से भगवान को प्रणाम का सतत साधनात्मक निर्वाह करते थे।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जानादिषु श्रुति चकाराच्युतसत्कथोदये।।

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्री मत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्या यथोत्तमः लोकजनाश्रया रतिः।।

(श्रीमद्भागवत 9/4/18–20)

इसी प्रकार यमलार्जुन ने भी भगवान से यही माँगा– प्रभो! हमारी वाणी आपके गुणगान में लगी रहे, कान आपकी कथा श्रवण के परायण हों, हमारे हाथ आपकी सेवा में, मन आपके चरणकमलों की स्मृति में रम जाये। सम्पूर्ण जगत में आपका निवास है, अतः हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे, हमारी आँखें आपके प्रतिबिम्ब स्वरूप संतों का दर्शन करती रहें –

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्या शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टि सतां दर्शनेऽस्तु भवतनूनाम्।।

(श्रीमद्भागवत 10/10/38)

गोस्वामीजी ने भी कवितावली में मानव जीवन की केवल इतनी ही सार्थकता बताई है कि – कानों में राम कथा, मुख में राम का नाम, हृदय में केवल रामजी का (निवास) स्थान, बुद्धि केवल राम का चिन्तन करे, सहारा आश्रय केवल राम का ही हो और प्रेम आसक्ति भी केवल राम में हो, यही इस (मानव) जीवन का फल है –

सिय-राम-सरूप अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नाम हिएँ पुनि रामहि को थलु है।।
मति रामहिं सों गति रामहि सों रति राम सों रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को बलु है।।

(कवितावली 7/37)

यही मानव जीवन में शरीर की सार्थकता है। मनुष्य का शरीर साधना के लिए ही मिला है। साधना को ज्ञान, कर्म और भक्ति 3 प्रकार से विभाजित किया गया है, जिसमें कर्म तो स्थूल शरीर के सभी अंगों से बाह्य साधना है, कर्म के विभिन्न प्रकार हैं, कर्म निर्वाह के लिए शरीर में भिन्न–भिन्न अंग हैं। इस कारण से कर्म प्रत्यक्ष और विस्तृत है। वेदों में भी साधनत्रयी के विभाजन में कर्म सर्वाधिक विस्तृत है। वेदों के 1 लाख मंत्रों में अस्सी हजार मंत्र कर्मकाण्ड के हैं, जबकि उपासना के सोलह हजार और ज्ञान के मात्र चार हजार मंत्र ही हैं। श्रीरामचरितमानस में राम जी भार्या जानकी और अनुज लक्ष्मण के साथ 14 वर्षीय वनवास यात्रा में जब वन क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तब महर्षि वाल्मीकि जी से अपने निवास के लिए अनुकूल स्थान पूँछते हैं–

अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई।।
मुनि तापस जिन्ह तें दुखु लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।।

अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ।।
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला।।

(2/126/2–3 तथा 5–6)

श्रीराम जी के निवास स्थल सम्बन्धी इस जिज्ञासा प्रश्न का उत्तर वाल्मीकि जी ने बड़ी सावधानी से साधनात्मक शैली से दिया, जिसमें कर्म को ही विस्तारित करके मनुष्य के सभी अंगों के साथ कर्म निर्वाह का सांगोपांग वर्णन किया –

श्रवणेन्द्रिय (कान) : जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।

नेत्र (लोचन) : लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।

वागेन्द्रिय (जिह्वा) : जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु।।

नासिका (नाक) : प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।।

रसनेन्द्रिय (जिह्वा) : तुम्हहिं निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।

सिर : सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।।

हाथ (कर) : कर नित करहिं राम पद पूजा।

पैर : चरन राम तीरथ चलि जाहीं।

(2/128/4, 6; 2/128 तथा 2/129/1–5)

शरीर के प्रत्येक अंगों की सार्थकता यही है कि वह श्रीराम जी की सेवा के काम आये। यही कर्म अर्थात क्रिया साधना है। हमारे शरीर में प्रत्येक अंग अत्यन्तावश्यक उपयोगी एवं प्रिय है, लेकिन यदि कोई बाह्य व्यावहारिक कर्म करने वाला अंग (जैसे– हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि) किसी दुर्घटना में शरीर से कट जाये तो भी जीवन बच सकता है। लौकिक व्यावहारिक जगत में तमाम अंगहीन व्यक्ति जीवन निर्वाह करते हुए देखे जाते हैं। शरीर की संरचना में यदि साधनत्रयी को समझना चाहें तो कर्म करने वाले अंग– कर्म एवं मस्तिष्क ज्ञान और हृदय भक्ति है, क्योंकि बुद्धि का धर्म ज्ञान है, जबकि भक्ति तो हृदय की भावना पर आधारित है एवं बाह्य अंगों से कर्म का आचरण होता है। वेदों में सर्वाधिक विस्तार कर्मकाण्ड का ही है इसीलिए शरीर में कर्म करने वाले अंग अधिक हैं। परन्तु कर्म करने वाले किसी या कई अंगों के बिना अपंग या विकलांग के रूप में जीवन निर्वाह हो सकता है। इसका तात्पर्य यही है कि किसी अपरिहार्य विवशता या असमर्थता के कारण कर्मकाण्ड की दृष्टि से यदि किसी आचरण का निर्वाह न हो सके तो भी साधना हो सकती है। इस प्रकार से यदि देखें तो कर्म करने वाले अंगों की तुलना में मनुष्य का मस्तिष्क (बुद्धि) और हृदय अधिक महत्वपूर्ण हैं। बुद्धि ज्ञान का प्रतीक है। जबकि हृदय भक्ति अर्थात् इस सिद्धान्त को समझने से पता चलता है कि कर्म करने वाला कोई अंग यदि निष्क्रिय भी हो जाये तो जीवन चल जायेगा, लेकिन उसकी बुद्धि (मस्तिष्क) और हृदय सही स्वस्थ रहें अर्थात् कर्मकाण्ड की दृष्टि से किसी कर्म का निर्वाह न भी हो सके तो ज्ञान की यथार्थता और भक्ति की निर्मलता पवित्रता बनी रहे तो

साधनात्मक जीवन चल जायेगा। अब यदि मस्तिष्क और हृदय की तुलना करें तो बुद्धिहीन (विक्षिप्त) पागल मनुष्य भी जीवन जीते हुए देखे जाते हैं, परन्तु आज तक कहीं भी किसी भी प्रकार से हृदय गतिशून्य मनुष्य को जीवित अवस्था में नहीं बचाया जा सका। सरलता से स्पष्ट करें तो बुद्धि हीन (ज्ञान के बिना) भी साधनात्मक जीवन जिया जा सकता है, लेकिन हृदय गति रुक जाने पर किसी भी उपाय प्रयास से जीवन जीना सम्भव नहीं है अर्थात् भक्ति के बिना साधनात्मक जीवन प्राणहीन हो जायेगा। चूँकि भक्ति तो हृदय के प्रेम पर आधारित है और ज्ञान, बुद्धि पर। इसीलिए कहा गया –

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू।।
सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।।
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू।।

(2 / 277 / 5 तथा 2 / 291 / 1–2)

जिस प्रकार जीवित शरीर, हृदय के बिना शव हो जाता है, उसी प्रकार भगवान शंकर ने स्पष्ट कर दिया कि भक्ति के बिना साधनात्मक जीवन भी प्राणहीन शव हो जाता है।

जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।।

(1 / 113 / 5)

गोस्वामी जी ने श्री रामचरितमानस में सीता जी को भक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।।

(2 / 321)

श्री हनुमानजी सीता (भक्ति) की खोज में जब लंका गये, तब लंकाधिपति के विलासी स्वर्ण महलों में देह सुख की भोग सुविधा तो देखी, पर वैदेही (भक्ति) को नहीं देखा।

गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।
सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही।।

(5 / 5 / 7)

भगवान शंकर के ही अवतार ने उपर्युक्त शीर्षक के सिद्धान्तानुसार वैदेही (भक्ति) हीन स्वर्ण प्रासाद को प्राण रहित शरीर (शव) समझना सुनिश्चित करके ही लंका–दहन कर दिया, क्योंकि जहाँ किसी जीवित देह को दग्ध करना महापाप है, वहीं प्राणहीन शरीर (शव) का दाह करना अंतिम और आवश्यक संस्कार होता है। एकादश रुद्रावतार श्री हनुमान जी ने व्यावहारिक प्रयोग करके भक्ति (सीता) रहित लंका को अर्थात् प्राण हीन शव को जलाकर जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उसी का सैद्धान्तिक सूत्र भगवान शिव ने सिद्धान्त के रूप में उमा से कहा –

जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।।

(1 / 113 / 5)

सब धरा रह जाएगा

पं0 राजेश तिवारी 'मक्खन', झाँसी। फोन : 9451131195

इस धरा का इस धरा पर सब धरा रह जायेगा।
चिन्ता न कर चिन्तन करो, साथ में क्या जायेगा।

अर्थ चाहो भी भला तुम धर्ममय अर्जन करो।
नीति की करना कमाई अंश कुछ अर्पन करो।
पाप का पैसा हमेशा पाप ही करवायेगा।
चिन्ता न कर चिन्तन करो, साथ में क्या जायेगा।

जिनकी खातिर कर्म निंदित तू हमेशा कर रहा।
कनक सी काया कलश में पाप को क्यों भर रहा।
काम ऐसे कर तू बन्दे यश जगत भी गाएगा।
चिन्ता न कर चिन्तन करो, साथ में क्या जायेगा।

पाप से यदि की कमाई काम न कुछ आयेगी।
कर्म यदि सुन्दर किये तो नाम दुनिया गायेगी।
कर्म जो भी शुभ अशुभ हो भोगना पड़ जायेगा।
चिन्ता न कर चिन्तन करो, साथ में क्या जायेगा।

सोच लो जाना कहाँ है स्वर्ग में या नरक में।
ईश कण कण में समाया सोच तेरे फरक में।
त्याग तप संकल्प से जीवन सफल हो जायेगा।
चिन्ता न कर चिन्तन करो, साथ में क्या जायेगा।

इस धरा का इस धरा पर सब धरा रह जायेगा।
चिन्ता न कर चिन्तन करो, साथ में क्या जायेगा।

हमें निज धर्म पर चलना

प्रस्तुति : **गुनगुन, सर्व हितकारी शिक्षा निकेतन**, निठारी, सै0-31, नोएडा

हमें निज धर्म पर चलना, सिखाती रोज रामायण।
सदा शुभ आचरण करना, बताती रोज रामायण।।
जिन्हें संसार सागर से, उतर कर पार जाना है।
उन्हें सुख से किनारे कर, लगाती रोज रामायण।।1।।

हमें निज धर्म पर चलना, सिखाती रोज रामायण।
सदा शुभ आचरण करना, बताती रोज रामायण।।
कहीं छवि विष्णु की बाँकी, कहीं शंकर की है झाँकी।
हृदय आनंद झूले पर, झुलाती रोज रामायण।।2।।

हमें निज धर्म पर चलना, सिखाती रोज रामायण।
सदा शुभ आचरण करना, बताती रोज रामायण।।
सरल कविता की कुंजन में, बना मंदिर है हिंदी का।
जहाँ प्रभु प्रेम का दर्शन, कराती रोज रामायण।।3।।

हमें निज धर्म पर चलना, सिखाती रोज रामायण।
सदा शुभ आचरण करना, बताती रोज रामायण।।
कहीं वेदों के सागर में, कहीं गीता की गंगा में।
कहीं रस बिंदु में मन को, डुबाती रोज रामायण।।4।।

हमें निज धर्म पर चलना, सिखाती रोज रामायण।
सदा शुभ आचरण करना, बताती रोज रामायण।।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं

श्री देवेन्द्र शर्मा, गुरुग्राम (हरियाणा) फोन : 9810199441

श्रीरामचरितमानस में श्रीविभीषण–शरणागति का प्रसंग बहुत ही मार्मिक है, जिस पर बड़े–बड़े आदरणीय भक्त–विद्वानों ने अपने–अपने अन्तःस्पर्शी भाव प्रकट किये हैं, जिन्हें पढ़कर श्रीरामचरितमानस प्रेमी इस निवेदक को अत्यधिक प्रोत्साहन–लाभ मिला है। भावों के उसी हृदय–स्पर्शी प्रवाह में, इस निवेदक की ओर से कुछ और भाव सभी प्रेमियों के प्रेम–रस को निवेदित हैं –

सृष्टि में मानव शरीर प्राप्त करना बड़े सौभाग्य का परिणाम है –

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥
देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आज बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

(5/42/4–8 तथा 5/42)

सर्वप्रथम निवेदन है कि– प्रभु प्रेमियों के लिए शरणागति–प्रसंग से बढ़कर उनके मन को भाने वाला प्रसंग और क्या हो सकता है? वह प्रसंग चाहे फिर विभीषण–शरणागति का हो या फिर किसी और बड़भागी–सौभाग्यशाली सुपात्र का हो।

निवेदन है कि प्रातः स्मरणीय श्रीगोस्वामी पतितपावनी, भक्ति–ज्ञान–वैराग्य प्रदायिनी श्रीरामचरित मानस में किसी भी जड़ अथवा चेतन पदार्थ से संसर्ग, सम्बन्ध और घनिष्ठता स्थापित करने हेतु चार साधन बताते हैं –

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना॥

(1/35/1)

अर्थात– किसी महान/आदर्श व्यक्ति के दरस (दर्शन) हेतु जाना उसके प्रति आकर्षण का फल है। इसका मूल आधार किसी पुण्यात्मा के बारे में दूर से कुछ सुनना है, क्योंकि सुनने पर ही किसी के बारे में जानकारी प्राप्त होती है और फिर उसके प्रति आकर्षण पैदा होता है। निवेदन है कि पूज्य संत और ग्रन्थ,

भक्ति के प्रथम चरण को 'श्रवण' ही बताते हैं। किसी संत–महात्मा के चरणों को 'परस' (स्पर्श) उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने का फल है। 'मज्जन (स्नान), श्रवण रूपी स्नान है, क्योंकि जब हम किसी संत–महात्मा के दर्शन को जाते हैं और कुछ समय उनके संग में बिताते हैं तो उसके फलस्वरूप हमें श्रीहरि–चर्चा सुनने को मिलती है। श्रीहरि की पतित–पावनी कथा रूपी सरिता में गोता लगाना (मज्जन) ही होता है। यह बाह्य–शुद्धि की प्रक्रिया है और चौथा साधन है– 'पान' (मुख के द्वारा ग्रहण) अर्थात– अंगीकार करना। जब श्रीभगवत्कथा सुनकर हमारे मन–बुद्धि में श्रीभगवान के प्रति श्रद्धा–विश्वास उत्पन्न हो जाए और अपने परम कल्याण हेतु हम उसकी प्राप्ति हेतु साधना–युक्त हो जाएँ, तब इस अवस्था को अन्तःकरण की शुद्धि (अन्तः–शुद्धि) की प्रक्रिया का आरम्भ माना जाता है और जब किसी भक्ति–मार्गी जीव के जीवन में प्रभु प्राप्ति हेतु ये चारों साधन सध जाते हैं, तब श्रीगोस्वामी जी अगली अर्धाली में इसकी फल श्रुति कहते हैं कि **'हरइ पाप कर बेद पुराना।।'** अर्थात जीव पाप–मुक्त होकर निर्मल हो जाता है और प्रभु के वचनों के अनुरूप हो जाता है, जिनमें वे कहते हैं –

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(5 / 44 / 2 तथा 5)

निवेदन है कि– साधारण भक्ति–मार्गी जीव के जीवन में भी ये चारों साधन नित्य–प्रति उसके आचरण में दिखाई देते हैं, जैसे –

देवालय में जाकर इष्टदेव के दर्शन करना, इष्टदेव के श्रीविग्रह के चरण–कमलों से अपने मस्तक का स्पर्श कराना, पुजारी जी के द्वारा अभिषेक, अर्थात– इष्टदेव के श्रीविग्रह के समीप रखे जल के छींटे लेना और इष्टदेव (श्रीभगवान) के चरणामृत का पान करना। यहाँ पर साधारण जीव लिखने का एक ही भाव है कि सांसारिक–व्यक्ति, ईश्वर की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार तो अवश्य करता है, परन्तु, वह भक्ति–मार्ग के उन दृढ़ सिद्धान्तों से युक्त नहीं हो पाता, जिनसे प्रभु प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। इन चारों साधनों के प्रति आस्था होने के पीछे, ईश्वर और उसकी सत्ता–महत्ता की जानकारी का होना आवश्यक माना गया है क्योंकि –

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

(7 / 89 / 7–8)

श्रीविभीषण–शरणागति के प्रस्तुत प्रसंग में प्रभु श्रीराम तो केन्द्र में हैं और श्रीविभीषणजी के अतिरिक्त छः भक्तों के नामों का स्मरण किया गया है, जिनमें से– उद्धार से पूर्व अहल्याजी 'प्रस्तर–मूर्ति रूप में जड़' थीं और नाना प्रकार के जड़ रूप वृक्षों से युक्त दण्डक–वन जड़–रूप ही था। तीसरा नाम भगवती श्रीसीताजी का आता है जो साक्षात् महाशक्ति स्वरूपा हैं और जो समस्त जड़ पदार्थों को चेतन करने में

परम समर्थ हैं, साथ ही साथ भगवती श्रीसीताजी भगवान श्रीराम की धर्मपत्नी हैं, जो अपने वियोग रूपी संकट की समाप्ति के लिए प्रार्थना–रत हैं। चौथा नाम कपट–कुरंग का है, अर्थात प्रभु श्रीराम इतने कृपालु हैं कि एक कपट–पशु का उद्धार करने के लिए भी उसके पीछे दौड़ते हैं। भक्ति–मार्ग में तो अपने उद्धार हेतु श्रीभगवान के पीछे पड़ना अथवा दौड़ना पड़ता है, लेकिन **'प्रबल प्रेम के पाले पड़ कर प्रभु को नियम बदलते देखा'** कहाँ तो प्रभु कहते हैं कि– **'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'** और श्रीहनुमानजी महाराज तक को भी तब ही उठाकर हृदय से लगाते हैं, जब वे अपना विप्र रूप त्याग कर वानर रूप में आ जाते हैं और यहाँ कपट–कुरंग के संदर्भ में तो– 'चला राम पद प्रेम अभंगा।। (3/25/7) वाला ये कैसा भक्त है? जिसको अपना परम धाम प्रदान करने हेतु श्रीभगवान अपने उस भक्त के पीछे दौड़ते हैं। उस भक्त का भाव देखिए –

निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं।।
'चला राम पद प्रेम अभंगा'

(3/26/छंद तथा /26/7)

इस कपटी मृग के पीछे जिसके हृदय में श्रीराम–प्रेम अभंग है, श्रीराम जी ऐसे दौड़ते हैं –

प्रभुहिं बिलोकि चला मृग भाजी। धाए राम सरासन साजी।।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछें सो धावा।।
कबहु निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई।।
प्रकटत दुरत करत छल भूरी। एहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी।।
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा।।
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि रामु समेत सनेहा।।
अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना।।

(3/27/10–17)

धन्य है वह भक्त और मेरे प्रभु की भक्तवत्सलता। भक्त कहता है कि– हे प्रभो! जिस प्रकार से आप अपने अन्य भक्तों को अनेकानेक साधनों से पूरी तरह छका कर दर्शन या मुक्ति प्रदान करते हो, आज मैं सबका बदला आपसे ले लेना चाहता हूँ, जब तक आप मेरे पीछे दौड़ते–दौड़ते छक नहीं जाओगे, तब तक मैं भी आपसे मुक्ति–मोक्ष अथवा आपका परमधाम स्वीकार नहीं करूँगा।

पाँचवें भक्त तो ऐसे हैं जो स्वयँ प्रभु श्रीराम के समरूप हैं, दोनों एक–दूसरे के ईश्वर और दोनों ही एक–दूसरे के पूजक हैं और जिनके बारे में प्रभु श्रीराम कहते हैं –

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।।

(7/45)

छटा नाम श्रीभरत जी का है, जिनके बारे में श्रीरामचरितमानस में बहुत कुछ कहा गया है। महर्षि भरद्वाज के शब्दों में –

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू।।

(2/208/8)

देव गुरु श्रीबृहस्पति जी के वचनों में –

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही।।

(2/218/7)

स्वयं प्रभु श्रीराम के मुखारविंद से –

तुम्ह जानहु कपि मोरि सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ।।

(7/36/7)

उपर्युक्त छः भक्तों में तीन भक्त जड़ हैं– प्रस्तर–मूर्ति रूप अहल्याजी, पृथ्वी और वृक्षों से युक्त दंडक वन और कपट–कुरंग (जड़–पशु) रूप में मारीच, सो करुणानिधान प्रभु श्रीराम स्वयं इनके पास जाते हैं और तीसरे के तो पीछे ही दौड़ते हैं। तीन अन्तरंग चेतन भक्त हैं– भगवान श्रीशंकर जी, भगवती सीताजी और श्री भरत जी, ये तीनों सदैव ही प्रभु श्रीराम के ध्यानस्थ ही रहते हैं। भगवान श्रीशंकर जी –

मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना।।
बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी।।
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।।

(1/82/4; 1/60/2 तथा 1/50/6)

भगवती श्रीसीता जी –

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी।।
निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।

(5/8/8 तथा 5/8)

श्रीभरतजी –

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत।।
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।।

(7/1क तथा ख)

उपर्युक्त से एक भाव यह निकल कर आता है कि चाहे पत्थर रूप में भक्त अहल्याजी हों, वृक्ष रूप में दण्डक–वन रूपी भक्त हों, पशु रूप में भक्त मारीच हों, भाई रूप में भक्त श्रीभरतजी हों, पत्नी रूप में भक्त श्रीसीताजी हों और फिर भगवान श्रीशंकरजी जैसे जगत–पूज्य देव (भक्त) हों, करुणानिधान प्रभु श्रीराम जी

के भजन करके उनकी कृपा प्राप्त करने का सबको बराबर अधिकार है और प्रभु श्रीराम भी सब पर समदर्शी होकर कृपा करते हैं –

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ।।
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।

(4 / 3 / 8; 3 / 36 / 6–7 तथा 7 / 86 / 10)

'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा' – इस प्रकार से श्री विभीषण जी ने उपर्युक्त छः भक्तों का स्मरण किया और उनके उन गुणों पर विचार किया, जिनके गुणों के कारण तीन का तो उद्धार हुआ और तीन जगत–पूज्य हुए; लेकिन, श्रीविभीषण जी ने विचार में पाया कि मैं तो इन छहों भक्तों से किसी न किसी प्रकार भिन्न हूँ और जब मैं प्रभु के जड़ भक्तों की तुलना में भी उनके समकक्ष नहीं ठहरता, तब तो फिर परम उच्च कोटि के भक्तों के तो चरणों की धूल के स्मरण का अधिकारी ही हो सकता हूँ, इससे अधिक और कुछ भी नहीं। सम्भवतः इसीलिए प्रभु के समक्ष प्रस्तुत होने पर श्रीविभीषण जी ने अपना परिचय देते समय उपर्युक्त छः भक्तों में से किसी भी भक्त के नाम अथवा उनके गुणों का सहारा नहीं लिया और अपना मूल अथवा सहज परिचय ही देते हैं –

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता।।
सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा।।

(5 / 45 / 7–8)

अर्थात अपने वंश का परिचय दिया, जिसे समूल नष्ट करने का प्रण श्रीभगवान कर चुके हैं। भाई से परिचय जोड़ा, जो प्रभु का कट्टर विरोधी हो चुका है और वंशानुगत अपने तामस प्रिय शरीर और पाप प्रिय स्वभाव का परिचय दिया और कहा कि इतना सब होते हुए भी, हे प्रभो! मैं आपके प्रणतपाल स्वभाव को (आपके एक परम भक्त के मुख से) सुनकर आया हूँ। श्रीविभीषण जी ने शेष सब श्रीभगवान पर छोड़ दिया। श्रीविभीषण जी की यही निर्मलता और दीनता प्रभु को भा गई –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा।।

(5 / 44 / 5 तथा 5 / 46 / 2)

इस निवेदक के भावों में यदि श्रीविभीषण जी अपने परिचय में ये कह देते कि– हे प्रभु! मैं हूँ तो बहुत बड़ा अधम, परन्तु जैसे आपने अन्य अधमों– अहल्याजी, दण्डक–वन और मारीच का उद्धार किया है, वैसे ही मेरा भी उद्धार कर दीजिये, तो सम्भवतः श्रीविभीषण जी की निर्मलता, थोड़ी–बहुत दूषित अवश्य हो

जाती, जैसा कि श्रीविभीषण जी बाद में अन्य सन्दर्भ में स्वयं स्वीकार और उसका परिहार भी करते हैं –

उर कुछ प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।

(5/49/6)

और इस प्रकार से –

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा।।

(5/46/2)

भक्तवत्सल श्रीभगवान अपनी आजानु भुजाओं से दण्डवत करते हुए श्रीविभीषण को उठा कर अपने हृदय से लगाकर उन्हें अपनी शरणागति और भगवान श्रीशिव के मन–भावनी भक्ति और लंका का ऐश्वर्य प्रदान करते हैं।

इस निवेदन के भावों में श्रीविभीषण जी की शरणागति की प्रक्रिया में– **'दरस परस मज्जन अरु पाना'** ये चारों सूत्र प्रयुक्त होते स्पष्ट दिखाई देते हैं –

'दरस' : जैसा कि पूर्व में निवेदन किया गया है कि– किसी का स्वभाव, उसका ऐश्वर्य एवं उसकी सामर्थ्य और शक्ति के बारे में सुनकर ही किसी के मन में उसके दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न होती है और वह उसके दर्शन के लिए जाता है और दर्शन करता है। सो विभीषण जी रावण के दरबार में श्रीहनुमान जी महाराज से भगवान श्रीराम के स्वभाव, ऐश्वर्य और शक्ति–सामर्थ्य के बारे में सुन चुके हैं और उसकी ही दुहाई देते हुए वे प्रभु श्रीराम के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं उनके दर्शन करते हैं –

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।।

(5/45)

'परस' : भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा।। अर्थात् इस प्रकार से विभीषण जी श्रीभगवान के उस पावनतम हृदय का परस (स्पर्श) पाते हैं, जिस हृदय कमल में भगवती श्रीसीता जी, भगवान श्रीशंकर जी, श्रीभरत जी और श्रीहनुमान जी महाराज जैसे भक्त प्राणों के समान बसते हैं –

सुनत बिभीषनु प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी।।

(5/49/3)

अर्थात् प्रभु श्रीराम के दर्शनों के उपरान्त जब विभीषण जी प्रभु के भावपूर्ण श्रवणामृत उपदेश का श्रवण करते हैं तो यह एक प्रकार से बाह्य शुद्धि कही जा सकती है।

'पाना' :

पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदयँ समात न प्रेमु अपारा।।
सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी।।

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी।।

(5/49/4–7)

अर्थात् श्रीभगवान के श्रवणामृत उपदेश रूपी अमृत से मज्जन (स्नान) के द्वारा बाह्य–शुद्धि होने पर जब विभीषण जी प्रभु से श्रीशिव–मन–भावनी भक्ति की याचना करते हैं और उसे प्राप्त कर लेते हैं, अपने आचरण में उतार लेते हैं तो 'पाना' की यह अन्तिम प्रक्रिया भी पूरी हो जाती है और **'धन्य न सो सम आन'** – विभीषणजी, श्रीभगवान के हृदय में स्थान प्राप्त कर लेते हैं –

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें।।

(5/48/7)

लेकिन, श्रीविभीषण जी की इस अवस्था की प्राप्ति होना भी प्रायः दुर्लभ ही है, क्योंकि इस अवस्था की प्राप्ति हेतु –

कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला।
गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल बिसाला।।
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना।।
जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ।।

(1/38/7–9 तथा 1/38)

इन अवस्थाओं को पहले पार करना होगा अर्थात– श्रीभगवान की सत्ता–महत्ता, उनकी दयालुता–कृपालुता और उनकी भक्तवत्सलता पर विश्वास करना होगा, क्योंकि –

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु।।

(7/90)

इस प्रकार से प्रभु का मिलन तो उनके द्रवीभूत होने पर ही होता है।

प्रातः स्मरणीय श्रीगोस्वामी जी श्रीमानस में जनकपुर और वनवास के प्रसंगों में स्पष्ट लिखते हैं कि जनकपुरवासियों और वनवासियों ने प्रभु दर्शन के लिए क्या–क्या छोड़ा –

देखन नगरु भूपसुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए।।
धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।।

सुनत तीरबासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥
लखन राम सिय सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥
सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काजु बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥

(1/220/1–2; 2/110/1–2 तथा 2/114/1–3)

प्रभु श्रीराम स्वयं भी यही कहते हैं कि –

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माही॥

(5/48/4–6)

जिसका अनुकरण श्रीविभीषण जी ने– **'चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं'** अर्थात्– बिना किसी शोक–विषाद के और हर्षित होकर किया और **अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें॥** अर्थात् श्रीभगवान के प्रिय–पात्र बने। श्रीविभीषण जी तो अपने 'सर्व' का त्याग सदैव के लिए ही करके प्रभु की शरण में आए थे और अपने 'स्व' को उन्होंने श्रीभगवान को अर्पण कर दिया, परन्तु आज के समय में हम सबके लिए ऐसा त्याग करना तो सम्भव नहीं है, लेकिन –

एक घड़ी आधी घड़ी आधिउ में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की हरे कोटि अपराध॥

अर्थात 24 घंटे की जीवन–चर्या में, एक घड़ी (घटी) = 24 मिनट, आधी घड़ी = 12 मिनट और उसमें भी इसका आधा समय अर्थात 6 मिनट का समय तो हमें निश्चिन्तता पूर्वक प्रभु–स्मरण के लिए निश्चित करना ही चाहिए। तो आइये हम सब भी कुछ ही क्षणों के लिए ही सही– **'चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।** का प्रयास करें.....

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥
श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(4/10/छंद तथा 5/45)